मीडिया और लोकतन्त्र

सम्पादक
प्रो. रवीन्द्रनाथ मिश्र

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन
4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002
शाखा
अशोक राजपथ, पटना 800 004
फ़ोनः +91 11 23273167 फ़ैक्सः +91 11 23275710
www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com
MEDIA AUR LOKTANTRA
Edited by Prof. Ravindranath Mishra
ISBN : 978-93-5072-412-5
Media/Criticism
© 2013 सम्पादक व लेखकगण
प्रथम संस्करण
मूल्य : ₹ 250
इस पुस्तक के किसी भी अंश को किसी भी माध्यम में प्रयोग करने के लिए प्रकाशक से लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है।
न्यू कृष्णा ऑफ़सेट, दिल्ली-110093 में मुद्रित
वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

लोकतन्त्र और साहित्यकार

रवीन्द्रनाथ मिश्र

लोकतन्त्र एवं साहित्यकार की मूल संवेदना में मानव हित का भाव सर्वोपरि है, लेकिन वह समय के साथ मूल्यों के विघटन एवं अन्य कारणों से परिवर्तित होता गया। अब हमारी सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक सत्ता द्वारा संचालित हो रही है, जहाँ जनहित के भाव में स्वयं के स्वार्थ का भाव निहित है। प्रस्तुत विषय पर चर्चा करते हुए हमें धूमिल की वे पंक्तियाँ क्रमशः बरबस याद आ जाती हैं, जिन्हें उन्होंने लगभग चालीस वर्ष पूर्व बिना किसी लाग लपेट की भाषा में लिखा था—"न कोई प्रजा है/न तन्त्र है/यह आदमी के खिलाफ/आदमी का खुला सा/षडयन्त्र है।[1]—(पृष्ठ—32) "अपने यहाँ संसद—तेली की वह घानी है, जिसमें आधा तेल है, और आधा पानी है"।[2]—(पृष्ठ—27)

वे सब के सब तिजोरियों के/
दुभाषिये हैं।/
वे वकील हैं/ वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं/नेता हैं। दार्शनिक हैं।
लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।/
यानी कि—।
कानून की भाषा बोलता हुआ/
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।[3](पृष्ठ—26)

दरअसल हमारे यहाँ एक समय था जब राजकाज के संचालन में धर्मगुरुओं की अहम भूमिका होती थी। उस समय की कानून एवं न्याय व्यवस्था चुस्त-दुरुस्त होने के साथ-साथ धार्मिक मूल्यों पर आधारित थी। कतिपय अपवादों को छोड़कर अपराधी को उसके किये हुए अपराध की सजा मिलती ही थी। रामचरितमानस में वशिष्ठ कहते हैं—"कहब लोकमत, साधुमत" अर्थात मैं लोकमत भी कहूँगा और साधुमत भी। उस समय कोई संविधान नहीं बना था। वस्तुतः धार्मिक ग्रन्थों में उल्लखित सत्य, न्याय, ईमानदारी कर्तव्यनिष्ठा आदि मूल्यों को सर्वोपरि मानकर ही शासन

किया जाता था। "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी" का भाव विद्यमान था। कालान्तर में राजकाज की व्यवस्था में विकृतियाँ आती गयीं और राजतन्त्र पूर्णतः निरंकुश होता गया। सामान्य जनता की हालत दिन प्रतिदिन बद से बदतर होती गयी। यह सिलसिला मुस्लिम शासन काल तक चलता रहा। अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था की शोषण नीति ने तो देश को और खोखला बना डाला। उनके शोषण के खिलाफ 1857 में विरोध की आग भड़की और 1947 तक जलती रही। भारतेन्दु एवं उनके मण्डल के साहित्यकारों ने अंग्रेजी शोषण नीतियों के विरोध में साहित्य सर्जन करते हुए लोगों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का स्वर फूँका। आगे चलकर प्रसाद, निराला, गुप्त, दिनकर, प्रेमचंद, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन आदि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतन्त्रता आन्दोलन की गति को तेज किया। राष्ट्रप्रेम के गीत गाते-गाते आजादी के दीवानों ने अपने प्राणों की आहुति दी। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के रचनाकारों की लेखनी का स्वर एक हो गया। सभी ने अतीत की विरासत का गुणगान करते हुए, वर्तमान पर आँसू बहाए और सुन्दर भविष्य की कामना की। शिवप्रसाद सिंह का मानना है कि "बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का भारतीय बौद्धिक 19वीं शताब्दी के बौद्धिकों की अपेक्षा, कमजोर, समझौताप्रिय, नमित और अंग्रेज भक्त होता गया। उसमें भारतीय चिंतन का तेज नहीं रहा, आत्मबल में कमी आयी और वह भारतीय वातावरण से काफी विछिन्न हो गया।[4]" (पृष्ठ 6–7)

देश स्वतन्त्र हुआ। धूमिल के शब्दों में कहूँ तो "मैंने कहा आजादी...मुझे अच्छी तरह याद है–मैंने कहा था, मेरी नस-नस में बिजली दौड़ रही थी, उत्साह में, खुद मेरा स्वर, मुझे अजनबी लग रहा था, मैंने काहा–आ-जा-दी"।[5]–(पृष्ठ संख्या-99) देशभर में आजादी की खुशियों का सैलाब उमड़ पड़ा। एक नये भारत यानी गाँधी जी के रामराज्य वाले भारत की संकल्पना को लेकर संविधान का निर्माण किया गया। जिसमें देश की जनता के हित में नियम कानून बनाये गये और उसी के अनुरूप संचालन की व्यवस्था भी की गयी। संविधान को आधुनिक भारत का गीत कहा गया। लोकतन्त्र की स्थापना में लोक-कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया। देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था और मूल्यों के नष्ट होने की कहानी का खुलासा रघुवीर सहाय ने "बूढ़े" शीर्षक नामक कविता में किया है। 'लोकतन्त्र का मजाक बनते/देख रहे हैं बेहद बूढ़े/कुछ कम बूढ़े कहते हैं कि क्या यह लोकतन्त्र है। 'इनसे भी कम बूढ़े कहते हैं कि मार दो/बेहद कम बूढ़ों को नफरत लोकतन्त्र से/बाकी सबको एक दूसरे से नफरत है।'[6]–(पृष्ठ-20) यह कविता आजादी से लेकर हमारे वर्तमान हालात को समेटती हुई हमें एक गम्भीर चेतावनी देती है।

दरअसल आजादी के बाद संवैधानिक लोकतन्त्र की प्रतिबद्धता को संदिग्ध रूप में देखा गया। इसका कारण था कि वह धन, यश, पुरस्कार आदि प्राप्ति की होड़

में सुविधाभोगी होता गया। उनके कथन और सर्जन में एकरूपता नहीं देखी गयी। साहित्यकार जगत गुटबंदियों, भाई-भतीजावाद, जातिवाद आदि का शिकार हुआ। कई साहित्यकारों ने तो मीडिया का सहारा लिया। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने दस्तावेज–109 के संपादकीय में लिखा है–"आज माहौल यह है कि हिंदी का शिखर बुद्धिजीवी किसी न किसी राजनीतक दल, पूँजी संस्थान और मीडिया से जुड़कर उसी प्रकार पाखण्ड और लफ्फाजी कर रहे हैं जैसा कि सत्ता में बैठे राजपुरुष। ये लेखक भी सत्ता का रूप ले चुके हैं। इनके अपने-अपने गुट हैं और अपने-अपने चेले चाटी। राजनेताओं ने जनता की जैसी दयनीय स्थिति बना रखी है वैसी ही निरीह स्थिति झोला ढोने वाले इन शार्गिदों की बन गयी है। ये सब मिलकर अब एक गिरोह का रूप ले चुके हैं, जिनके लिए कुछ लेखकों ने 'माफिया' शब्द का प्रयोग किया है। अखबारों-पत्रिकाओं में निरन्तर चर्चा में बने रहकर ये तरोताजा बने रहते हैं। अपने बारे मे प्रतिकूल टिप्पणियों पर ये आत्ममंथन नहीं करते, न तार्किक उत्तर देते हैं, बल्कि कहा जाता है कि इनसे इनका स्वास्थ्य उत्तम हो जाता है। ऐसे ही लेखकों के चलते हिन्दी आलोचना और हिन्दी पुरस्कारों की विश्वसनीयता लहूलुहान हो रही है।"[7] (पृष्ठ-6)

यह सही है कि साहित्य सर्जन खूब हो रहा है, लेकिन गुणवत्ता एवं सामाजिक प्रतिबद्धता में कमी आ रही है। ज्याँ पाल सार्त्र ने लिखा है–"अगर साहित्य सब कुछ नहीं है तो वह कुछ भी नहीं है। मेरे लिए प्रतिबद्धता का यही अर्थ है। अगर हम इसे गीत या भोलेपन तक ले जाएँगे, तो इसकी धार कुंद हो जाएगी। जो साहित्य समाज और मनुष्य के हर हिस्से में अनुगुंजन पैदा नहीं करता, वह निरर्थक है। एक युग का साहित्य, साहित्य द्वारा अपने युग को आत्मसात करने के अतिरिक्त और क्या है?"[8] (पृष्ठ-143)

कतिपय कवियों और लेखकों को छोड़कर अधिकांश साहित्यकारों ने अपने को सामाजिक और राजनीजिक प्रश्नों से अलग रखा। स्वतन्त्रता के पहले इस देश के साहित्यकारों की स्थिति ऐसी नहीं थी, लेकिन बाद का साहित्यकार 'अभिव्यक्ति के खतरे' नहीं उठाना चाहता और समाज पर आये संकटों से ज्यादा उसकी दिलचस्पी अपने निजी संकटों से रही। आजादी की लड़ाई के दौरान साहित्यकार और पत्रकार को एक बारीक रेखा अलग करती थी, लेकिन दोनों के सपने समान थे। यह भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद के साहित्य में देखा जा सकता है, लेकिन बाद में इसकी धार कुंद पड़ती गयी। साहित्यकारों की जमात अपनी डफली अपना राग को लेकर कई खानों में बँट गयी। उसमें से कुछ तो हीन भावना के शिकार हुए और कुछ ने अवसरवादी होकर तटस्थता की नीति अपनायी। स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के अर्थ को ठीक से समझा नहीं गया। इसको लेकर अंतराष्ट्रीय स्तर पर नये सिरे से चर्चाएँ शुरू हुईं। हमने अपने को लोकतन्त्र घोषित किया और इस घोषणा मात्र से आश्वस्त हो गये कि चूँकि हम लोकतन्त्र हैं, इसलिए हमारी तरक्की और प्रगति के लिए विश्व के सभी समृद्ध लोकतन्त्र स्वभावतः उत्तरदायी हैं।

आजादी के बाद नवलेखन प्रगतिवादी शिविर साहित्य के प्रतिरोध में जन्मा था, इसलिए स्वभावतः इसमें राजनीति से विरक्त लोगों का प्रवेश हुआ। राजनीति प्रगतिवाद के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुडी हुई मानी जाती थी, फलतः प्रतिक्रिया में राजनीति से उदासीनता स्वाभाविक थी। नवलेखन आस्थाहीन, दिग्भ्रमित और अधिक से अधिक व्यक्ति केन्द्रित होता गया। व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अर्थ अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन मान लिया गया। मूल्यों के स्थान पर मूल्य निरपेक्षता की बात होने लगी। दरअसल इस दौर में जनता की भाँति साहित्यकार भी देश के प्रति उदासीन हुआ। स्वातन्त्र्योत्तर दूसरे दशक का नवलेखन चाहे उसे युवा लेखन कह लें, जो बुभुक्षित पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, प्रतिबद्ध पीढ़ी, युयुत्सावादी पीढ़ी, दुर्भिक्ष पीढ़ी, अभिशप्त पीढ़ी आदि के नाम से अकविता, अकहानी की रचनाएँ आयीं। इसमें स्वतन्त्र चेतना, व्यक्तिवादी मूल्य, सांकेतिक शिल्प आदि का निर्माण किया गया। उसने "धुरीहीनता" जैसे आन्दोलन के माध्यम से साहित्य में उदात्त व्यक्ति के स्थान पर "सामान्य मानव" और बाद में लघुमानव की प्रतिष्ठा की। धुरीहीनता, स्वार्थपरता, दलबंदी, फिरकापरस्ती, आलोचना का शिविरवाद, आत्मीयता का अभाव और सबसे ऊपर "समकालीन स्थितियों के प्रति उदासीनता" यह सत्तावन के बाद वाले पंचवर्षीय नवलेखन के वातावरण का निर्माण करते हैं जहाँ पहुँच कर सब सच झूठ में और सारा झूठ सच का रूप ग्रहण कर लेता है। यहाँ साहित्यकार की भूमिका को लेकर अनेक प्रश्न खड़े होते हैं कि वह आखिरकार संवैधानिक लोकतन्त्र की जिम्मेदारी के प्रति क्यों उदासीन रहा? जबकि उसे चाहिए था कि वह अपने साहित्य के माध्यम से भारत में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था को मजबूत और सुदृढ़ बनाता।

शिवप्रसाद सिंह के कथनानुसार "1957 में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। राजनीति में आम चुनाव। साहित्य में इलाहाबाद का साहित्यकार सम्मेलन। राजनीति ने यह सिद्ध कर दिया कि जनता के सुख-दुख से उदासीन कांग्रेस एक ऐसी चट्टान है जिसे भारत की छाती से हटाना मुश्किल है। भ्रष्टाचारी, अत्याचारी, विलास-प्रिय, नकली चेहरों और मुखौटों को सत्ता मिली, जनता के हिस्से बेबसी, कातरता, गरीबी और उदासीनता।"[9] (पृष्ठ-102) भारत की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था पर नागार्जुन, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल चौधरी, धूमिल, दुष्यंत, मन्नू भंडारी, श्रीलाल शुक्ल आदि साहित्यकारों की लेखनी धारदार रही है। दुष्यंत कुमार ने हिन्दी गजल को नयी जमीन प्रदान करते हुए उसे समसामयिक परिवेशगत जीवन से जोड़ा। उन्होंने "कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिये, कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए" कहते हुए संवैधानिक लोकतन्त्र पर व्यंग्य ही नहीं किया अपितु "अब तो इस तालाब का पानी बदल दो, ये कँवल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।"[10] (पृष्ठ-13-14) की पंक्तियों के माध्यम से वे पूरी व्यवस्था को बदलने की बात करते हैं।

इसी प्रकार श्रीलाल शुक्ल का रागदरबारी और मन्नू भंडारी का 'महाभोज' उपन्यास आजाद भारत की संवैधानिक लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के उन काले पन्नों को खोलता है जिसकी भारतीय जनता ने कभी कल्पना भी न की होगी। आठवाँ दशक संक्रमण का था। आपातकाल मूलतः विचार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर ही आक्रमण था। एक ओर इसने राजनीतिक सत्ता को असीमित और अराजक शक्ति-केन्द्र के रूप में खड़ा किया, तो दूसरी ओर प्रजातन्त्र की चेतना को कुंठित किया। क्षेत्रवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, कुनबावाद, यहाँ तक कि व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा भी सत्ता-केन्द्र के रूप में उभरने लगी और राष्ट्रीय तथा सामाजिक चिन्तन गौण हो गया। प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है—"भारतीय प्रजातन्त्र, प्रेसतन्त्र और पूँजीतन्त्र में तेजी से बदलाव आने लगा और यह उन लोगों के हाथ में चला गया, जिन्हें न देश के स्वाधीनता संघर्ष का पता था, न उनके मूल्यों और अस्मिता का। नतीजे में वह चीज हर जगह से गायब होने लगी, जिसे स्वदेश कहते हैं।"[11] (पृष्ठ-118) यहाँ कतिपय साहित्यकारों ने तत्कालीन परिस्थितियों पर अपनी लेखनी चलायी, अन्यथा शेष असरवादी नीति के तहत अपना स्वार्थ साधने में लगे रहे।

शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है—"20वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भयानक युद्धों और नरमेध का अध्याय बन जाएगा। यह सर्वाधिक खूनी शताब्दी का सर्वाधिक खूनी संकट है। युद्ध, क्रान्ति, बिखराव, आत्म हत्या, मानसिक रोग, गरीबी, अकाल इस संकट के लक्षण और यही परिणाम हैं।"[12]—(पृष्ठ-13) वस्तुतः देखा जाय तो 20-21वीं सदी के संधिकाल पर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक घटनाएँ घटित हुईं, जिनका मानवजाति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यहाँ साहित्यकार की भूमिका को लेकर प्रश्नचिह्न खड़ा होता है, क्योंकि वह अपनी रचनाओं से न तो जनमानस को आन्दोलित कर सका और न संवैधानिक लोकतन्त्र की अवधारणा की रक्षा। कतिपय रचनाओं को छोड़कर अधिकांश रोजमर्रा के जीवन के कार्यव्यापारों एवं निजी अनुभूतियों पर आधारित थीं। सत्ता पर आसीन राजनेताओं एवं अन्य अधिकारियों द्वारा आये दिन लोकतन्त्र का गला घोंटा जा रहा है लेकिन सहित्यकार स्वार्थ के मकड़जाल में उलझा हुआ तमाशा देख रहा है। सत्ता की सेवाएँ सामान्य, विशिष्ट, अतिविशिष्ट, आदि लोगों के लिए होती हैं, लेकिन साहित्यकार की सेवाएँ सम्पूर्ण मानवजाति के मंगल के लिए होती हैं। उसे तो मूल्यों की रक्षा करते हुए समाज को एक नयी दिशा देनी चाहिए। रचनाकार का दायित्व बहुत बड़ा होता है। अब देखना यह है कि क्या वह यह सब कर रहा है? वस्तुतः हो यह रहा है कि साहित्यकार भी अन्यों की भाँति अवसरवादी एवं समझौतावादी हो गया है।

आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ भी संवैधानिक लोकतन्त्र की अवमानना हो रही है, वहाँ साहित्यकार को उसके विरोध में खड़ा होना होगा, वह चाहे व्यक्ति, समाज, संस्था, सरकार, आदि कोई भी हो। उसके द्वारा किये गये भ्रष्टाचार और

षडयन्त्र का पर्दाफाश करना चाहिए। आजकल यह कार्य मीडिया और न्यायपालिका बड़ी बखूबी से कर रहे हैं। इतिहास गवाह है कि सुकरात को जहर पीना पड़ा, गैलीलियो और ब्रुनो को कितनी यातनाएँ सहनी पड़ीं। रूस में तो जारशाही के जमाने से लेकर स्टालिन और ब्रजनेव तक अपने वैचारिक विरोधी लेखकों-कलाकारों को खत्म करने या साइबेरियाँ अथवा ब्लादीवोस्तक के ठण्डे, वीरान श्रम कारावासों में भेजने और उन्हें जिन्दा मौत देने का एक पूरा-का-पूरा इतिहास है। दॉस्तोबेस्की अपने साइबेरिया निर्वासन में गोली खाते-खाते भाग्य से अंतिम क्षणों में बच गये। तुर्गनेव और टॉल्स्टॉय जैसे महान कथाकारों को सत्ता और चर्च के लोगों द्वारा कितना अपमान का घूँट पीना पड़ा।

आजादी के बाद साहित्यकार व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण अपने कर्तव्य से विमुख होता गया। कथाकार कमलेश्वर ने अपने एक साक्षात्कार में कहा कि "साहित्य में स्वार्थों की जुगलबंदी शर्मनाक है। आज का लेखन वैयक्तिक होता जा रहा है। उसमें सार्वभौमिकता नहीं है। पहले हिन्दी का प्राण-बिन्दु कहीं खास लोगों के बजाय पूरे माहौल में व्याप्त था। आज तो व्यक्ति पूजा हो रही है। लोग मठाधीश बने बैठे हैं। कोई आलोचना का, कोई कविता का, तो कोई कहानी का। सभी अपने-अपने चहेतों को स्थापित करने के लिए तरह-जरह के छल-छद्म और जोड़-तोड़ में लगे हुए हैं।" (हिन्दुस्तान दैनिक, 26 सितम्बर 1999)

आज सम्पूर्ण माहौल को भ्रष्टाचार एवं अपराध मय बनाने में सबसे बड़ी भूमिका राजनीतिक सत्ता और बाजारवाद की है। धार्मिक संस्थाओं की ताकत अब समाप्त हो चुकी है। अब व्यक्ति और समाज को संचालित करने वाली शक्ति राजनीति है न कि धर्म। पहले व्यक्ति, समाज और देश धार्मिक मूल्यों द्वारा संचालित होता था। आज उन सबका ताना-बाना बिगड़ने लगा है। ऐसे में साहित्यकार की भूमिका प्रधान हो जाती है कि वह मानवीय मूल्यों की रक्षा वाले साहित्य का सर्जन करे। जिससे हमारे संवैधानिक लोकतन्त्र की गरिमा बनी रहे। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः' का भाव पैदा हो सके। उसमें 'सुरसरि सम सब कह हित होई' की संकल्पना हो और साथ चलने और रहने की प्ररणा हो।

सन्दर्भ

1. दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश : धूमिल
2. संसद से सड़क तक : धूमिल
3. वही
4. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : शिवप्रसाद सिंह
5. संसद से सड़क तक : धूमिल
6. लेखक की रोटी : मंगलेश डबराल

7. दस्तावेज : सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
8. संकट के बावजूद : मैनेजर पाण्डेय
9. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : शिवप्रसाद सिंह
10. साये में धूप : दुष्यन्त कुमार
11. समय का विवेक : प्रभाकर श्रोत्रिय
12. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : शिवप्रसाद सिंह